दूसरी नज़र

■ पी चिदंबरम

ज्यादातर भारतीय गरीब!

अल्टी गिनती शुरू हो चुकी है। नरेंद्र मोदी की सरकार भी स्पष्ट रूप से यह समझ गई है। इस नतीजे के समर्थन में प्रमाण प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। हाल का ताजा सबूत तो यह है कि किस तरह जल्दबाजी में एक सौ चौबीसवें संविधान संशोधन विधेयक का मसविदा (सात जनवरी को) तैयार किया गया और नौ जनवरी को इसे संसद से पास भी करा लिया गया।

याद कीजिए भारत का संविधान तैयार करने में कितना लंबा वक्त लगा था। यह भी याद करें कि 1951 में जो पहला संविधान संशोधन किया गया था, उसका मसविदा तैयार करने और उसे पारित करने में कितना समय लगा था। वह पहला संविधान संशोधन था, जिसमें 'सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों' के लिए 'विशेष प्रावधान' की अवधारणा प्रस्तुत की गई थी। यह 'विशेष प्रावधान' ही 'आरक्षण' के रूप में जाना जाता है।

खौफ में उठाया कदम

एक सौ चौबीसवें संशोधन को लेकर आलोचना इसलिए हुई है, क्योंकि इसे मात्र अड़तालीस घंटे के भीतर ही अंजाम दे दिया गया, वह भी बिना किसी संसदीय समिति की गहन जांच या सार्वजनिक बहस के। दूसरी ओर, लोकसभा में महिलाओं के लिए एक तिहाई सीटें आरक्षित करने के लिए संविधान संशोधन विधेयक 2008 से लटका पड़ा है।

एक सौ चौबीसवें संशोधन की खूबियों को छोड़ दें तो यह एक ऐसे खौफ का संकेत है, जिसने भाजपा और सरकार दोनों को अपनी जकड़ में ले लिया है। ऐसे खौफ में आकर ही सरकार कई कदम उठा रही है, और किसानों को नगदी हस्तांतरण का कदम भी इनमें से एक है जिसका जिक्र मैंने छह जनवरी को इसी स्तंभ में किया था।

मूल भावना स्वीकार्य

अब बिल की खूबियों को देखें। विधेयक के साथ संलग्न उद्देश्यों और कारणों में कहा गया है- 'नागरिकों का आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों का एक बड़ा हिस्सा पैसे के अभाव में उच्च शिक्षण संस्थानों और सरकारी रोजगार से वंचित है और इसलिए वह उन लोगों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाता जो आर्थिक रूप से ज्यादा सक्षम हैं।' किसी भी राजनीतिक दल ने विधेयक के पीछे इस मूल भावना का विरोध नहीं किया। (कांग्रेस ने 2014 के लोकसभा चुनाव में अपने घोषणापत्र में आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों को आरक्षण देने का वायदा किया था।)

इसलिए व्यापक रूप से इस विधेयक का विरोध इसके मूल सिद्धांत को लेकर नहीं, बल्कि उन दूसरे कारणों की वजह से है जो काफी महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं और इनमें से कुछ ये हैं-

1- आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए आरक्षण अगर पिछले चार साल सात महीने में प्राथमिकता नहीं रही (जबकि तीन तलाक थी) तो अब, जब लोकसभा चुनाव की अधिसूचना जारी होने में साठ दिन से भी कम का वक्त रह गया है, सरकार की शीर्ष प्राथमिकता क्यों बन गई?

2- अनुच्छेद 15 की प्रस्तावित धाराएं 6 (ए) और (बी) इसी अनुच्छेद की मौजूदा धाराओं (4) और (5) की हूबहू नकल हैं, सिर्फ इसमें एक महत्त्वपूर्ण बदलाव किया गया है। जबकि अनुच्छेद 15 (5) के तहत विशेष प्रावधान (आरक्षण) के कानून द्वारा जरूरी बताया गया है, नई धारा में शब्द 'कानून द्वारा' हटा दिया गया है और इससे सरकारी स्कूलों और कॉलेजों में सरकारी आदेशों के जरिए ही सरकार को आरक्षण देने का अधिकार मल जाएगा।

3- एक महत्त्वपूर्ण बदलाव के साथ ही अनुच्छेद 16 की प्रस्तावित धारा (5) भी इसी अनुच्छेद की धारा (4) की नकल है। अनुच्छेद 16(4) में सिर्फ पिछड़े वर्ग को आरक्षण देने की अनुमति दी गई है जिनका सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है। नई धारा में खास शब्दों को हटा दिया गया है।

वैधानिक और नैतिक रूप से संदिग्ध

4- सुप्रीम कोर्ट के द्वारा घोषित कानून के मुताबिक नौकरियों में आरक्षण की अनुमति तब तक नहीं है जब तक कि संबंधित वर्ग का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं हो, न ही सिर्फ आर्थिक पिछड़ेपन को आधार मान कर आरक्षण देने की बात है। ये फैसले मौजूदा संशोधन के पहले संविधान के मुताबिक दिए गए थे। सरकार को यह सलाह दी गई होगी कि अगर संविधान संशोधन हो गया तो इन फैसलों से निपटा जा सकता है। विधेयक के समर्थकों ने सरकार द्वारा प्राप्त कानूनी राय की मांग की ताकि वे अपने को इस बात के लिए संतुष्ट कर सकें कि कानूनी रूप से इसके पिट जाने की स्थिति में इसके भागीदार नहीं हैं।

5-सबसे ज्यादा आलोचना तो गरीबों का आकलन करने के तरीके को लेकर है। आठ जनवरी, 2019 को सारे अखबारों और चैनलों ने इसका एक-सा ही आधार बताया (जाहिर है जैसा कि उन्हें सरकार ने बताया)। एक व्यक्ति जिसके परिवार की सालाना आय आठ लाख रुपए है, उसे गरीब माना गया है। विपक्ष ने सरकार से मांग की कि वह आंकड़े प्रस्तुत करे जिनके आधार पर आठ लाख की यह सीमा तय की गई है। लेकिन सरकार ये आंकड़े मुहैया नहीं करा रही। सार्वजनिक रूप से मौजूद आंकड़े बताते हैं कि भारत की सवा सौ करोड़ आबादी का पनच्यानवे फीसद हिस्सा इसके दायरे में आ जाएगा। अगर संशोधन के मुताबिक करीब-करीब हर नागरिक गरीब है तो ऐसे में जिनके लिए संशोधन लाया गया है वे तो गरीब से भी बदतर हालत में माने जाएंगे। जब तक कि गरीब को इस रूप में परिभाषित नहीं किया जाता जिससे कि आर्थिक पायदान पर आबादी का सबसे निचला बीस फीसद हिस्सा न आ पाए तो यह नया प्रावधान कानूनी और नैतिक दोनों ही तरह से संदिग्ध माना जाएगा।

सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि जो भी देना है, देंगे कैसे। सरकार स्कूलों और कॉलेजों में बिना बुनियादी सुविधाओं और प्रशिक्षित शिक्षकों के और ज्यादा सीटें बढ़ा सकती है। लेकिन सरकार में नौकरियों के मामले में देखें तो नौकरियां हैं कहां? क्या यह सरकार का व्यापक स्तर पर जैसे- केंद्र, राज्य, नगर निगम, पंचायत और सार्वजनिक क्षेत्र- सरकार का विस्तार करने का इरादा तो नहीं है? केंद्रीय सार्वजनिक उद्यमों में कर्मचारियों की संख्या काफी घटी है। मार्च 2014 में यह सलह लाख नब्बे हजार सात सौ इकतालीस थी, जो मार्च 2017 में पंद्रह लाख तेईस हजार पांच सौ छियासी रह गई। ऐसे में जब रोजगार खत्म हो रहे हैं, तो और आरक्षण को सरकार का झांसा ही माना जाएगा।

इसलिए यह विधेयक आरक्षण के लिए नहीं, आत्मरक्षा के लिए है।

बदलाव की बुनियाद

अमरेंद्र किशोर

देश के बेहद पिछड़े, गरीब और बदनसीब कहे जाने वाले इलाकों की सच्चाइयां भी अजीब हैं। कहने को कई रोजगार योजनाएं चला कर समाज के आखिरी छोर तक लोगों को आत्मनिर्भर बनाने के दावे किए जाते रहे हैं, लेकिन समाज के तलछट का सच न सिर्फ विरोधाभासी, बल्कि वहां की वास्तविकताएं लोकमानस के लिए चिंता की पोटली हैं। आजादी से पहले तक भारत के सुदूरवर्ती इलाके श्रम की प्रतिष्ठा के अद्भुत केंद्र रहे हैं। वहां की सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणा समरसता और सामुदायिकता पर आश्रित रही है। इस वजह से भारत के गांव अपने आप में प्रौद्योगिकी, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और अंतर्जातीय संबंधों के ऐसे मजबूत आधार थे, जहां स्त्री-पुरुष संबंध, धर्म, परिवार और कृषि की शानदार परंपराओं को पोसने वाला एक बेहद मजबूत समाज था। जब उन इलाकों में विकास आया तो निर्माण और सुविधाओं के चंद फलसफे जरूर लिखे गए, पर कुवृत्तियां वहां आज भी दिखती हैं।

देश के पूर्वी राज्य झारखंड और पश्चिमी प्रदेश महाराष्ट्र के सामाजिक हालात पर नजर डालें तो वहां आजादी अब भी कोसों दूर दिखती है। अगर ओडीशा की सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणा बेतरह शिथिल, अदक्ष और भ्रष्ट प्रशासन के चंगुल में दम तोड़ चुकी है, तो महाराष्ट्र में दलितों के पक्ष में लड़ी गई ऐतिहासिक लड़ाइयों के बावजूद यह कसक रह-रह कर सालती है कि वहां जो होना था, वह अभी तक हो नहीं पाया। बल्कि महिलाओं की अधिकारिता के सवाल पर कई दृष्टांत चिंता का सबब बन जाते हैं। यह सच है कि कभी किसी जमाने में ओडीशा के कालाहांडी-बोलांगीर-कोरापुट और महाराष्ट्र के अधिकतर हिस्सों में लोग खेती-बाड़ी, वनोपज जुटाने और कुदरती संसाधनों से सुसंगत रिश्ते बना कर सदियों तक सामुदायिक जीवन, संपत्ति पर सामूहिक हक और सर्वानुमतिमूलक जनतंत्र के जीवंत बोध को बचाए रखते थे। लेकिन देखते ही देखते उन तमाम जगहों का दृश्य-परिदृश्य बदलता चला गया। सुखद कुदरती सुंदरता है, पर वहां की जिंदगी खूबसूरत नहीं है। ओडीशा, महाराष्ट्र के अलावा हर राज्य में सरकार के बनवाए लोगों के पक्के मकान हैं, घर में भोजन के अधिकार वाला अनाज है, जनधन सुविधा के तहत बैंक में खाते हैं और चावल वाला खैराती कार्ड भी है। खेती-किसानी को लेकर योजनाओं के अंबार हैं- योजनाएं इतनी हैं कि खुद जिला स्तर के अधिकारी उन्हें गिन कर बता नहीं पाते। तो, आम जनता भी उन्हें जान नहीं पाती।

कालाहांडी, पलामू, बुंदेलखंड से लेकर मुर्शिदाबाद तक में सदियों से चली आ रही वंचना आज भी है। वहां कालातीत शोषण और उससे उपजा अबाध पलायन है। वहां के गांवों में पंचायत है। उन पंचायतों में विभिन्न राजनीतिक दलों के एजेंट हैं। जनवादी विकास के लोकलुभावन पोस्टर हैं, लेकिन उन्हीं गांवों में राशनकार्ड गिरवी रख कर कर्ज जुटाते किसान हैं। सूरत और अमदाबाद जाकर श्रम बेचते और वहां से जानलेवा बीमारी लेकर लौटते सैकड़ों मजदूर हैं। वहीं नवजात शिशु बेचती माएं हैं और बिन ब्याही मां बनती बालाएं हैं। विकास और लोकतंत्र को चिढ़ाता यवतमाल है, जहां देश भर में सबसे ज्यादा बिन ब्याही माताएं हैं, जिनकी राहत के लिए उच्च न्यायालय को हस्तक्षेप करना पड़ता है। इसी तरह हरियाणा का मेवात भी है, जहां कई गांवों के हर तीसरे घर में बाहर से खरीद कर लाई गई बहुएं हैं- यानी परोक्ष ही सही, पर देश के कई राज्यों में असंगठित बहू बाजार भी हैं। इसके आगे देश में बुंदेलखंड भी है, जहां पानी के नाम पर तमाम संघर्ष हैं, विरोध है और उस विरोध के प्रतिरोध में खूरेंजी भी है। इस पानी के कारण पलामू इस कारण से नामचीन हुआ कि सरकारी योजनाओं के तहत वहां इतने कुएं खोदे गए कि हर कदम पर एक कुआं है और संताल परगना में हर दस कदम पर तालाब और पोखर की मौजूदगी कागजों पर दिखती है।

जबकि चाहे झारखंड हो या महाराष्ट्र- अमूमन हर राज्य में पानी के आधार पर सामाजिक परंपराएं सदियों से चली आ रही हैं। जैसे झारखंड में जिस गांव के नाम का अंत 'दा' से होता है वहां पानी की कभी कमी नहीं होती थी। ऐसे इलाके में तालाब,पोखर, आहर और कुओं के चलते पीने के अलावा खेतों में फसल उगाने के लिए भरपूर पानी की उपलब्धता होती थी। ऐसे गांवों में आंखें मूंद कर बेटी ब्याहने की परंपरा का जिक्र आज भी लोग करते हैं।

पानी और शादी का नाता बहुत पुराना है। कालाहांडी आज भी सरकार द्वारा तय धान के लक्षित उत्पाद से कहीं ज्यादा उपज का रिकॉर्ड हर साल दर्ज करवाता है, लेकिन पड़ोसी जिलों के लोग वहां के कई इलाकों में अपनी बेटी ब्याहना नहीं चाहते। क्योंकि भोजन की कमी की वजह से आज भी कहीं-कहीं मां-बाप एक क्विंटल चने की कीमत से भी कम रकम पर अपने नौनिहाल बेच देते या लिए गए कर्ज के एवज में महाजन के पास अपना बच्चा गिरवी रखते हैं। पानी की कमी की शुरुआत कालाहांडी में 1965 से शुरू हुई। कहते हैं अभाव में स्वभाव बदलता है। इसलिए लगातार अकाल ने वहां के लोगों को मानसिकता से भिखारी और लालची बना दिया। लिहाजा, समझौतों की अटूट शृखंला में बंधुआ मजदूरी, बाल श्रम से लेकर पलायन का धब्बा कालाहांडी को नसीब हुआ। लड़कियों की कमी से बदनसीब मेवात से बहुओं की बढ़ती मांग से कालाहांडी की लड़कियों से हरियाणा के आंगनों में किलकारियां गूंजने लगीं। मगर, बहुओं की खरीद-फरोख्त के बाजार के बिचवानों की आवाजाही से कालाहांडी में सामाजिक असंतुलन के हालत पैदा हो गए।

समाज

> आजादी के बाद लोक-परंपराओं, प्रचलित तकनीकों और उन पर आश्रित लोकाचार को सराकर ने सिरे से खारिज कर दिया। यह सच है कि पानी और खेती से जुड़ी व्यवस्था समय के साथ बढ़ती आबादी के साथ सामंजस्य नहीं बैठा सकी।

दुनिया भर में आधुनिकता की बढ़ती संभावनाओं और विकास से बदलते समाज के चेहरे के साथ पानी को लेकर औरतों की तकलीफें बढ़ी हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएसओ) ने घरों से पनघट की बढ़ती दूरियों पर जो आंकड़े पेश किए हैं, वे चौंकाने वाले हैं। क्यों जिंदगी की मूलभूत सुविधाएं गांवों तक पहुंचाने में सरकारें बहुत सफल नहीं रही हैं। जल और जन के परस्पर रिश्तों को लेकर 'यूएन वर्ल्ड वाटर असेसमेंट' ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि पानी की उपलब्धता को लेकर भारत में आंकड़े जुटाने की संवेदनशीलता अभी देखने को नहीं मिल रही है। देश में पानी-सेहत-शिक्षा की स्थिति झारखंड से लेकर महाराष्ट्र की तस्वीर एक जैसी है।

आजादी के बाद लोक-परंपराओं, प्रचलित तकनीकों और उन पर आश्रित लोकाचार को सराकर ने सिरे से खारिज कर दिया। यह सच है कि पानी और खेती से जुड़ी व्यवस्था समय के साथ बढ़ती आबादी के साथ सामंजस्य नहीं बैठा सकी। सरकार ने यही माना कि यूरोप और अन्य महादेशों में खेती-किसानी की विधियां और तकनीक कहीं ज्यादा प्रासंगिक और अचूक हैं। लिहाजा, कृषि क्रांति और सिंचाई की आयातित 'उन्नत' तकनीकों ने तात्कालिक परिणाम तो बढ़िया दिया, लेकिन भारत की माटी, आबोहवा इन तकनीकों के अनुकूल नहीं थी। देश का लोकमानस परस्परता की भावना से इतर उपभोक्ता बन गया। सरकारों ने गरीबी, पिछड़ेपन और बदहाली को लेकर स्थानीय समाज की सोच को समझने और आंकने के बदले विशेष पैकेज परोसना शुरू किया। इस पैकेज के परिणाम सामने हैं। लोग अपनी जमीन पर काम करना भूल गए, हर विपत्ति और आफत में सरकार की और देखने की प्रवृत्ति बढ़ती चली गई।

आरक्षण का झुनझुना

मोदी जब प्रधानमंत्री बन जाएंगे तो वे आरक्षण को जरूर समाप्त कर देंगे। इसका हमको पूरा विश्वास है।' यह बात मुझे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के कुछ ब्राह्मण छात्रों ने कही पिछले चुनाव अभियान के दौरान, जब खबर मिली बनारस वासियों को कि मोदी इस चुनाव क्षेत्र से लड़ने वाले हैं। जिन छात्रों से मेरी बात हो रही थी, वे वहां संस्कृत पढ़ रहे थे और उनकी सबसे बड़ी समस्या थी कि दाखिला बीएचयू में बड़ी मुश्किल से मिलता था सवर्ण छात्रों को, क्योंकि सत्तर फीसद जगहें आरक्षित थीं अन्य वर्गों के लिए। इन छात्रों की बातें मुझे पिछले हफ्ते बहुत याद आईं, जब संसद में संविधान संशोधन पर चर्चा सुन रही थी। चर्चा दोनों सदनों की ध्यान से सुनी मैंने इस उम्मीद से कि कोई एक तो होगा, जो कहेगा कि आरक्षण का दायरा बढ़ाने के बदले उसको पूरी तरह समाप्त करने का समय आ गया है। खूब चर्चा हुई संशोधन पर, लेकिन यह बात किसी ने नहीं कही।

वक़्त की नब्ज़

■ तवलीन सिंह

> माना कि आरक्षण को हटाना कठिन है, क्योंकि इसके होने से बना है एक विश्वसनीय वोट बैंक, जो कोई भी राजनेता खोना नहीं चाहेगा। लेकिन शायद कोई आएगा, जिसको देश की चिंता अपने राजनीतिक लाभ से ज्यादा होगी। यह सपना तो हम देख ही सकते हैं।

संविधान में आरक्षण का प्रावधान रखा गया था 1947 में उन लोगों के लिए, जिनके साथ सदियों से अन्याय होता आ रहा है अपने देश में। प्रावधान में समय सीमा रखी गई थी, जिसको भुला दिया गया है, क्योंकि हमारे राजनेता जानते हैं कि मामला वोट बैंक का है। न होता तो बहुत पहले स्वीकार कर लिए होते कि अगर सत्तर वर्ष बाद भी दलितों और आदिवासियों को आरक्षण की आवश्यकता है सरकारी शिक्षा संस्थाओं और सरकारी नौकरियों में, तो इसका मतलब है कि आरक्षण नाकाम रहा है।

रहा है नाकाम काफी हद तक। सो, इसके दायरे को बढ़ाने से कुछ हासिल नहीं होने वाला है। भारत के नौजवानों को आरक्षण से कहीं ज्यादा जरूरत है हजारों नए कॉलेज और विश्वविद्यालयों की है। याद है मुझे कि कपिल सिबल जब मानव संसाधन विकास मंत्री थे, तो उन्होंने मुझे कहा था कि पंद्रह सौ नए विश्वविद्यालय बनाने की आवश्यकता है, क्योंकि उच्च शिक्षण संस्थाओं का अभाव इतना गंभीर है। इनका निर्माण हुआ नहीं है। वह इस आंकड़े से साबित होता है कि कुल विश्वविद्यालय भारत में आठ सौ उन्नीस हैं।

सरकार के पास क्षमता नहीं है इनको बनाने की और चूंकि शिक्षा प्रणाली में एक तरह का लाइसेंस राज है शिक्षा प्रणाली में, निजी कॉलेज बन नहीं सकते हैं, इसलिए कि लाइसेंस सिर्फ उनको मिलता है, जिनकी पहुंच लंबी हो। थोड़ी-सी तहकीकात करेंगे आप तो जान जाएंगे कि तकरीबन हर बड़े राजनेता की पत्नी या बेटी कोई कॉलेज चला रही है, क्योंकि इस बहाने मिलती है हमारे महानगरों में कीमती जमीन या तो मुफ्त में या कौड़ियों के दाम। इतनी महंगी हैं ये जमीनें कि किसी आम आदमी के लिए इसको अपने बल पर खरीदना नामुमकिन है।

मोदी ने शिक्षा को प्राथमिकता दी होती तो अपनी सरकार बनते ही एक नई शिक्षा नीति तैयार करने में लग जाते शिक्षा के लिए एक अलग मंत्रालय बना कर। शिक्षामंत्री होते थे भारत सरकार में, लेकिन राजीव गांधी ने शिक्षा मंत्रालय को मानव संसाधन मंत्रालय में शामिल कर दिया और किसी प्रधानमंत्री ने इसको बदलने का प्रयास नहीं किया है आज तक।

स्मृति ईरानी के हाथों में जब यह अति-महत्त्वपूर्ण मंत्रालय आया, तो मैं उनसे मिलने गई। उस वक्त स्मृतिजी को मालूम नहीं क्यों चिंता थी कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति बेकाबू हो रहे हैं। यह बात जब उन्होंने कही मुझे, तो मैंने सुझाव दिया कि इसकी चिंता करने के बदले उनको सोचना चाहिए कि किस तरह सरकारी शिक्षण संस्थानों की स्वतंत्रता और स्वायत्ता बढ़ाने का काम किया जा सकता है। मैंने उनको याद दिलाया कि आज दुनिया की बेहतरीन उच्च शिक्षण संस्थाएं सब अमेरिका में हैं, जहां सरकारों और सरकारी अधिकारियों का हस्तक्षेप न होने के बराबर है। हॉर्वर्ड और येल जैसे आइवी लीग विश्वविद्यालय बने हैं, निजी निवेशकों के पैसों से। ये विश्वविद्यालय खुद तय करते हैं अपने पढ़ाई के तरीके और दाखिले के नियम।

भारत में हिसाब उलटा है। सरकारी अधिकारी तय करते हैं कि अध्यापकों का वेतन कितना होगा, फीस कितनी होगी, पढ़ाई क्या होगी, और आरक्षण किसके लिए होगा। इतना हस्तक्षेप करने के बावजूद हाल यह है कि कई छात्र अशिक्षित ही रह जाते हैं पढ़ाई खत्म होने के बाद। और कई बेजुबान भी। मुझे ऐसे कई युवा मिले हैं, जिन्हें इंग्लिश मीडियम में पढ़ने के बाद अंग्रेजी में बात करनी तक नहीं आती है, पढ़ाई करना तो दूर की बात। नतीजा यह कि उनको सरकारी नौकरियों पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि निजी क्षेत्र में काम करने के लायक ही नहीं बनते हैं।

सरकारी नौकरियों की स्थिति यह है कि पिछले वर्ष जब रेल महकमे ने नब्बे हजार नौकरियां खोलीं, तो तीन करोड़ के करीब लोग सामने आए। उत्तर प्रदेश में जब बासठ चपरासियों की नौकरियां खुलीं तो तिरानबे हजार लोग आए, जिनमें पचास हजार ग्रेजुएट थे और 3,740 के पास पीएचडी की डिग्री थे। अब जो सवर्ण नौजवान भी इस दौड़ में शामिल हो गए हैं, कहां से आने वाली हैं सरकारी नौकरियां?

काश कि संविधान में संशोधन किया होता आरक्षण को समाप्त करने का। काश कि नरेंद्र मोदी ने अपने पूर्ण बहुमत के बल पर ऐसा किया होता अपने कार्यकाल के पहले सौ दिनों में ही। अब जब सौ दिन से कम रह गए हैं उनके कार्यकाल के, इतने बड़े सुधार की कोई उमीद नहीं रख सकते हैं। सो, उम्मीद यही कर सकते हैं कि अगले आम चुनावों के बाद जो भी प्रधानमंत्री बनेगा, उसमें इस सुधार लाने की हिम्मत होगी। माना कि आरक्षण को हटाना कठिन है, क्योंकि इसके होने से बना है एक विश्वसनीय वोट बैंक, जो कोई भी राजनेता खोना नहीं चाहेगा। लेकिन शायद कोई आएगा, जिसको देश की चिंता अपने राजनीतिक लाभ से ज्यादा होगी। यह सपना तो हम देख ही सकते हैं।

अगर कहीं मैं तोता होता

सरकार का मास्टर स्ट्रोक! सरकार का मास्टर स्ट्रोक! सरकार का छक्का! सरकार का छक्का!

आर्थिक आधार पर दस फीसद आरक्षण विधेयक को लेकर हर एंकर लहालोट दिखा। मानो दस फीसद में वह भी शामिल हो! सभी एंकर जन मास्टर स्ट्रोक की वीरगाथा गाते रहे और अब 'तेरा क्या होगा महागठबंधन' जैसे कूट मंत्र उचारने लगे।

तीन दिन तक न राग-राफेल सुनाई दिया, न राग-सबरीमला सुनाई दिया, न राग अयोध्या बजा, न विविध तिलक त्रिपुंडधारी बाबा लोग कैमरों में बयान देते दिखाई दिए। विधेयक संसद में था! बहसें थीं। सब लाइव था। कुछ कहते मास्टर स्ट्रोक! मास्टर स्ट्रोक! कुछ कहते सरकार डरी! सरकार डरी! आवाजें चैनलों में गूंजती थीं। ये है भाजपा का 'सबका साथ सबका विकास'! दस फीसद में आर्थिक रूप से कमजोर हिंदू मुसलिम सिख ईसाई सब आते हैं।

अपनी खिसियाहट उतारते हुए विपक्ष सरकार से पूछता रहा : साढ़े चार साल बैठे रहे। अब चुनाव आया तो ले आए। यह चुनावी अवसरवाद है। फिर आपने नौकरियां पैदा ही कहां की हैं कि आरक्षण दोगे। यह भी एक 'जुमला' है। 'कमल छाप जुमला' है।

आरक्षण के भक्त बोलते रहे : देखा! हम सबका साथ सबका विकास में यकीन करते हैं। किसी के साथ भेदभाव नहीं करते। हमारी नजर में सब बराबर हैं।

लेकिन विघ्न संतोषी क्यों मानते? वे कहते रहे कि अव्वल तो यह राज्यसभा में अटकेगा। अगर वहां से निकला तो बड़ी अदालत में अटकेगा!

वित्तमंत्री ने अपने लंबे भाषण में इस आरक्षण के टिकाऊ होने को लेकर कहा कि अब तक राज्यों में जितने आरक्षण दिए गए, इसलिए वापस हुए, क्योंकि वे आरक्षण को ताकत प्रदान करने वाली धारा से ताकत नहीं लेते थे, यानी यह लेगा और टिकेगा!

विपक्ष की स्थिति विचित्र दिखी। विधेयक न खाते बनता न उगलते बनता! भई गति सांप छछुंदर केरी! वित्तमंत्री ने वामपंथियों पर चुटकी ली कि गरीबों की बात करने वाले तो इसका समर्थन करें, जरा दिल खोल कर करें!

पर अपने विपक्ष का भी जवाब नहीं। पहले संसद में जम कर आलोचना की। देर तक किंतु-परंतु किया। फिर अंत में हां कर दी। आरक्षण विधेयक पास हो गया।

लेकिन दो दिन की धुलाई ने आरक्षण की सारी कमाई को बेकार कर दिया। एक चैनल पर एक बहस में एक अंग्रेजी पत्रकार ने कहा भी कि चुनाव के ऐन पहले ऐसे कोई भी 'पापूलिस्ट' कदम लाभ नहीं देते, क्योंकि पब्लिक जानती होती है कि यह सब चुनाव में वोट लेने के लिए किया जा रहा है।

बहसों ने सब साफ कर दिया, 2019 के चुनाव सामने हैं।

इसके बाद जो बड़ी खबरें बनाईं, बड़ी अदालत ने बनाईं। एक सुबह बड़े जजों की एक बेंच ने मंदिर मामले की सुनवाई की। सुनवाई कुल सोलह मिनट में निपट गई। अगली तारीख उनतीस जनवरी दी गई!

अदालत की ऐसी लाइन सुन कर भक्त जन 'महादुखी' दिखे। अदालत के बाहर प्रदर्शन करते दिखे। एक कुद्ध भक्तिन बोलीं : जज रहें ठाठ में राम लला टाट में! ये नहीं चलेगा!

एक हिंदी चैनल पर अयोध्या से एक बाबा बोले : यह नहीं चलेगा। अदालत को सौ करोड़ जनता की भावनाओं को भी देखना चाहिए। एक बोला, सबरीमला पर 'फास्ट ट्रैक', आधार पर 'फास्ट ट्रैक' और मंदिर पर देर! यह ठीक नहीं। इसे भी करो 'फास्ट ट्रैक'! बाबा लोग भी आजकल राजनीति में पूरे निष्णात हैं।

तभी एक चैनल अदालत की दुश्वारी बताने लगा कि तीन लाख पृष्ठ की सामग्री है। नब्बे हजार पेज फारसी उर्दू में हैं। पंद्रह पार्टियां दावेदार हैं। इतने पृष्ठों को बांचना, समझना और सब पक्षों की सुनवाई करना। यह कोई हंसी ठट्ठा नहीं है। यानी कि मामला 2019 के चुनाव से पहले तक नहीं निपटना।

लेकिन हाय रे 'तोते' की किस्मत!

एक दिन सीबीआई प्रमुख आलोक वर्मा बहाल और एक दिन बाद ही 'आउट'! वर्मा दफ्तर गए। कामकाज शुरू किया। लेकिन हा हंत! अड़तालीस घंटे भी न हुए थे कि आलोक वर्मा को 'मूव आउट' कर किसी और महकमे में भेज दिया गया!

'सेलेक्ट कमेटी' सुबह बैठी और पहली चोट में ही आलोक वर्मा का तबादला कर दिया। कारण सीवीसी की रिपोर्ट!

हाय रे तोते तेरी किस्मत! कभी अंदर तो कभी बाहर!

तोते की ऐसी किस्मत पर कवि रघुवीर सहाय की यह कविता कितनी सटीक है :

'अगर कहीं मैं तोता होता
तोता होता, तो क्या होता?
तोता होता!
होता, 'फिर' क्या?
होता क्या? मैं तोता होता
तोता तोता तोता तोता
तो तो तो तो ता ता ता ता
बोल पट्ठे सीताराम!'

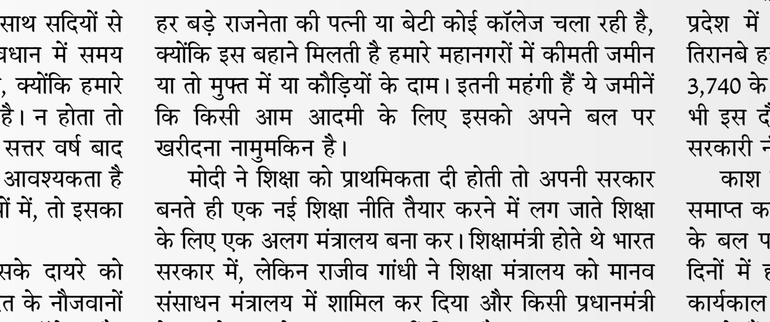

बारखबर

■ सुधीश पचौरी

> विपक्ष की स्थिति विचित्र दिखी। विधेयक न खाते बनता न उगलते बनता! भई गति सांप छछुंदर केरी! वित्तमंत्री ने वामपंथियों पर चुटकी ली कि गरीबों की बात करने वाले तो इसका सर्मथन करें, जरा दिल खोल कर करें!